



**पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी द्वारा
साधर्मीओं को लिखे हुए आध्यात्मिक पत्र**

(२०)

कलकत्ता

४-९-१९५६

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी...धर्मस्नेह।

कार्ड मिला। परम पूज्य महान्योगी श्री गुरुदेव के चरणों में सादर प्रमाण। आशा है गुरुदेवश्री सुख-शांति में विराजते होंगे व आप पुण्यवान जीव उनकी साक्षात् अमृतवाणी से पूर्ण तृप्त हो रहे होंगे।

लंबे काल से, हीनयोगी से, मुझे तो प्रत्यक्ष गुरुदर्शन का अभाव रहा है। शिखरजी की यात्रा पर, अथवा कलकत्ते के प्रोग्राम पर पुण्योदय से, साक्षात् दर्शनका लाभ होनेवाला है, यह जानकर बहुत प्रसन्नता है।

भादवा सुदी ५ को बहिनें आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेंगी, यह प्रसंग बहुत सुखप्रद होगा। शांताबहिन का आज कार्ड मिला, मालूम हुआ अचरजबहिन की बच्चियाँ भी प्रतिज्ञा लेंगी, बहुत हर्ष का विषय हैं; मैं इस अवसर पर जैसा कि बहिनें शरीक होनेको लिखा है, वहाँ नहीं आ सकूँगा, इसका मुझे खेद है; बहिन से मेरी असमर्थता सूचित कर देना। प्रसंग के प्रति मेरी हार्दिक अनुमोदना है।

बहिनें सोचती होंगी, निहालभाई ने न पत्र दिया है, न आना ही हुआ है, कहीं सुमार्ग से हटना तो नहीं हो गया है, कारण अशुभयोगों में तो प्रवृत्ति है व शुभ से उदासीनता दिखती है। मेरे प्रति अनुराग है न, अतः आपको कहकर कार्ड डलवाया होगा। विकल्पात्मक वृत्तियों का तो सहज ही अनुमान कर लिया जाता है, परंतु निर्विकल्पता का माप तो बाह्य से नहीं किया जा सकता; यह तो स्वयं के समाधान का विषय है। बहिनों का व आपका मेरे प्रति वात्सल्यवत् अनुराग है व मेरा भी आप लोगों के प्रति; यह एक मार्ग में चलनेवालों का सहज संबंध है। एकाकार गोले में प्रविष्ट दृष्टि से वृत्तियों में फेरफार नहीं किया जा सकता; जड़ पत्रादिक की बात तो दूर। हाँ, इस दृष्टि से यथार्थ ध्येय व मार्ग की निःशंकता अवश्य है, अनुभवगम्य है। शक्तिकी निरंतर पकड अथवा एकतासे अथवा शक्तिमयी ही हूँ इस अनुभवसे वृत्तियोंके सहज फेरफारका प्रत्यक्ष समाधान होता है; व गुरुदेवकी वाणीका साक्षात् अर्थ समझमें आता है, जिसका फल वृद्धिगत होते हुए सुखकी पूर्णता है। अशुभमें सहज खेद, शुभमें कुछ उत्साह, सहज ही होता है; पर इन दोनोंमें अथवा शुद्धतामें भी फेरफार करने से कोई प्रयोजन नहीं; मात्र पिंड हूँ, वृत्ति नहीं, गुरुदेवके इन्ही वचनोंको हृदयमें उतार लिया है।

शेष फिर।

**धर्मस्नेही
निहालचन्द्र**

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४५: अंक-२४७, वर्ष-२३, जुन-२०१८

आषाढ शुक्ल ८, रविवार, दि. २६-६-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-५१, प्रवचन-१८

‘शरीर को नरक घर जानो।’ ऐसा लिखा है, पाठ में दूसरा है।

**जेहउ जज्जरु णरय-घरु, तेहउ बुज्जि सरीरु।
अप्पा भावहि णिम्मलउ, लहु पावहि भवतीरु।।५१।।**

यह किसलिए कहते हैं? भगवान अनाकुल आनन्द के प्रेम में, कहते हैं कि यह शरीर नरक के घर जैसा जर्जरित तुझे दिखेगा। नव द्वार से मल, मूत्र, थूक, चारों ओर से पसीना झरे-ऐसी यह धूल है। भगवान आत्मा आनन्द का कन्द है। आहाहा..! कहो, भाई! आत्मा आनन्द सच्चिदानन्द सत् शाश्वत, शाश्वत ज्ञान और आनन्द का सागर, सरोवर है भगवान, उसके प्रेम के बिना तुझे यह शरीर मीठा लगता है। चाट लें, शरीर का मानो भोग ले, क्या करे, मानो सुन्दर लगे, ऐसा करें, क्या है परन्तु? यह तो हड्डी है, चमड़ी है, माँस है, खून है, पीव है। एक गन्ने जितनी जरा सी चमड़ी उतर जाये, गन्ने की छाल। शेरड़ी समझते हो, गन्ना-गन्ना। एक छिलका उतरे तो पता पड़े। थूकने के लिए खड़ा न रहे। कहता था न-मेरे भोग के लिए है, बहुत सुन्दर शरीर अद्भुत, मक्खन जैसा! धूल में भी नहीं, मूर्ख! तेरे शरीर में तो हड्डियाँ और चमड़ी भरी है अकेले। आहाहा..!

‘जेहउ णरय घरु जज्जरु’ यहाँ तो ‘शरीर

को नरक की उपमा दी है।’ आहाहा..! ‘जैसे नरक में सर्व अवस्थाएँ खराब और ग्लानि उपजानेवाली होती है...’ नीचे नरक है न नारकी? यह माँस और शराब खाने (पीनेवाले) लम्पटी मरकर नरक में जाते हैं। समझ में आया? यह महाराज, यह राजा, सब कहलाते हैं न? सब मोटर-बोटर चलनेवाले... लाखों-करोड़ों मनुष्यों को मारें, मछलियों को मारें, माँस खायें, शराब पिये, परस्त्री के लम्पटी-ये सब नरक के महेमान होते हैं। मार खाने के लिए... यहाँ तो खम्बा-खम्बा होती हो, सब मरकर नीचे गये। यह राजा, महाराजा, सब वहाँ (गये हैं), हाँ! वहाँ जार्ज-वार्ज और एडवर्ड और सब। आहाहा..! और साढ़े तीन करोड़, पाँच-पाँच करोड़ के बंगले में सोते हों, हैं?

मुमुक्षु :- देरी क्या? किसकी लगे?

उत्तर :- किसकी लगे? पानी का पत्थर बड़ा भारी हो, वह पानी में साथ पड़े नीचे। इसी प्रकार अकेला पाप। आत्मा को भूलकर नरक का पाप (किया हो) यह पाप का बोझ बढ़ा वह नीचे नरक में जाता है। कहते हैं कि उसकी प्रतिकूलता नरक में (बहुत है)। ऐसा यहाँ तो शरीर का वर्णन करना है, हाँ! जैसे ग्लानिकारक है, खराब है, मल-मूत्र

से भरपूर है, नारकी... खारा पानी, अंग छेद इत्यादि-इत्यादि... नरकवास में क्षण भर भी साता नहीं है। कोई उसमें सुखकारी नहीं है-ऐसा।

‘मानव का यह शरीर भी नरक जैसा है।’ लो! यहाँ तो यह उपमा दी, देखो! आहाहा..! क्या कहना चाहते हैं आचार्य? कि जैसे नरक में उत्पन्न होनेवाले, बड़े महाराजा मरकर नरक में गया हो तो हाय.. हाय..! अरर.. यह क्या है? उसे पूर्वभव का पता नहीं होता कि मैं एक राजा था और मरकर (यहाँ) आया हूँ। अरर.. क्या है यह? जहाँ उत्पन्न

हो वहाँ सिर पर मधुमक्खी का छत्ता होता है। मधुमक्खी का छत्ता जैसा उत्पत्ति का स्थान होता है वहाँ उत्पन्न होता है और उत्पन्न हो साथ में नीचे छत्तीस प्रकार के शस्त्र होते हैं। नीचे छत्तीस प्रकार के शस्त्र, उसमें गिरे एकदम! टुकड़े। यहाँ अभी महाराज को डोलिया में निकालते हों, बड़े राजा आदि को डोलिया में

निकालते हैं। डोलिया.. डोलिया, समझते हो? बड़ा पलंग हो, हाथ में हुक्का दिया हो, सिर पर पगड़ी बंधायी हो... क्या कहलाता है उसकी? पालकी! यहाँ पालकी निकलती हो, वहाँ नरक में पोढ़े हों। हाय..! अरे..! यह अवतार क्या है यह? यह क्या है? कितने काल (रहना है)? कैसी स्थिति? दूसरे परमाधामी आते हैं (और कहते हैं) यह नरक का स्थान है पापी! तुमने पाप किया, इसलिए यहाँ अवतार लिया है। जैसे यह नरक का शरीर है, अथवा नरकस्थान अच्छा नहीं लगता; उसी प्रकार यह शरीर नरक जैसा है-ऐसा यहाँ बतलाना है। आहाहा..! दूसरी बात

तो कहीं रह गयी।

यहाँ तो आत्मा के सामने एक शरीर रखा। शरीर ‘जज्वर’ नरक के स्थान जैसा है। कहो, समझ में आया? देखो, इसमें जरा लिखा है, **‘शरीर के ऊपर से त्वचा को हटा दिया जावे तो स्वयं को इस शरीर से धृणा हो जाएगी...’** जरा चमड़ी उतारे, वहाँ आहाहा..! दुर्गन्ध लगती है। ऐसा मानो चाट लूँ या खा लूँ, क्या करूँ? इसे ऐसा लगे, इसे जरा चमड़ी उतारकर दिखावे तो आहाहा..! ऊँहू.. इसके भाग (टुकड़े) करके दे, एक तपेली



में माँस, एक में इसका खून, एक में इसकी चमड़ी, एक में इसकी हड्डियाँ, एक में दाँत (ऐसे) सब अलग भाग बतावे (तो) ऐसा कहे। अरर..! यह शरीर? तब यह शरीर किसका शरीर है?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है, आहाहा..! ऐसा बतलाने के लिए बात की है, हाँ!

धृणा या द्वेष कराने के लिए नहीं। भाई! तू अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है न, प्रभु! उसका प्रेम छोड़कर तुझे ऐसे नरक के जैसे शरीर के प्रेम में फँसकर जिन्दगी बिताता है, इसी में। चौबीस घण्टे इसी की सम्हाल, इसे खिलाना, इसे पिलाना, इसे नहलाना, इसे धुलाना और सुलाना.. प्रातः हो, वहाँ वापस यह (सब)। यह भी तेरा समय चला जाता है, यह होली नरक जैसा शरीर है। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। ऐसे आनन्दकन्द के सन्मुख देखे बिना इसी-इसी में तेरा (जीवन) जाता है। आहाहा..! समझ में आया?

‘करोड़ों रोगों का स्थान है।’ कहो! **‘शरीर**

में बालपना परवशरूप से (पराधीनता से) बहुत ही कष्ट से बीतता है।' एक तो शरीर का बालकपना हो, बालकपना होता है न शरीर का? (वह) पराधीनता में जाता है। 'युवानी में घोर तृष्णा शान्त करने के लिए धर्म की भी परवाह नहीं करता...' युवावस्था में कमाने का होता है, बस! कमाओ... यहाँ जाओ, यहाँ जाओ, यहाँ जाओ, भटको...! वृद्धावस्था में अशक्त होकर घोर शारिरीक और मानसिक वेदना सहता है। लो!

'इस मनुष्य शरीर से ऐसा साधन हो सकता है कि फिर कहीं भी शरीर धारण नहीं करना पड़े।' कहते हैं कि ऐसा नरक के स्थान जैसा नरदेह है परन्तु इसमें यदि आत्मा अपना साधन करे तो फिर देह नहीं मिलती। फिर से शरीर नहीं मिलता—ऐसा यहाँ आत्मा में साधन है। आहाहा..! परन्तु यह आत्मा क्या? इसे माहात्म्य नहीं आता। किञ्चित् यह दया पालन करूँ, यह व्रत पालूँ, भक्ति करूँ और पूजा करूँ, शरीर करूँ, यात्रा करूँ और वह करूँ, भोग करूँ—ऐसी क्रियाकाण्ड और राग को देखने में इसकी जिन्दगी जाती है। भगवान की भक्ति वह राग है, वह शुभराग है। ए..भाई! भगवान की भक्ति शुभराग है, हिंसा है। भले ही आवे परन्तु है हिंसा.. आत्मा की हिंसा होती है। ए.. भाई! परन्तु यह क्या हाँ जी करते हो? भगवान की भक्ति हिंसा? कोई करेगा नहीं। सुन न! करे न करे, वह भाव आये बिना रहेगा नहीं परन्तु वह भाव—भगवान की भक्ति का भाव भी शुभराग है। शुभराग भी स्वभाव की हिंसा (करता है)। आहाहा..! कहते हैं कि तेरा प्रेम वहाँ लूट गया, यहाँ तो देखता नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। यह सब शरीर का राग, बाहर का राग—प्रेम में तू लुट गया। तुझे आत्मा भगवान सच्चिदानन्दप्रभु, सिद्धसमान सदा पद मेरो—ऐसे आत्मा के प्रति तो तुझे प्रेम, रति और रुचि हुई नहीं।

रति, रुचि हुए बिना तेरे जन्म—मरण मिटनेवाले नहीं हैं।

परन्तु यह बात तो जैसे हो वैसे आयेगी न। ऐई.. भाई! भाव आता अवश्य है। भक्ति, पूजा, दया, दान का शुभभाव (आता अवश्य है)। परन्तु वह शुभराग कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है। यहाँ तो स्वभाव के प्रेम की बात चलती है; इसलिए स्वभाव से विरुद्ध भाव का प्रेम, रुचि मिथ्यात्वभाव है। यह राग—भक्ति (स्वयं) मिथ्यात्वभाव नहीं है परन्तु राग में धर्म—आत्मा का निश्चय से कल्याण होगा—ऐसी मान्यता को भगवान, मिथ्यात्व कहते हैं। आहाहा..! ए.. भाई! तुम्हारे तो कहाँ मूर्तिपूजा थी? ठीक है, परन्तु इन मूर्ति पूजावालों को विवाद उत्पन्न हो ऐसा है। तुम्हारे (तो) भगवान की माला जपते हैं, लो न! णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं.. वही का वही है। माला गिने तो भी शुभराग है; यह राग है, वह आत्मा के स्वभाव की हिंसा है। ए.. भाई! अर..र..! हैं?

यह राग हैं, वह आत्मस्वभाव का प्रेम कराकर छुड़ाना है। आहाहा..! यहाँ तो आत्मप्रेम की बात चलती है, उसके समक्ष शरीर को नरक जैसा सिद्ध किया। देखो न! आहाहा..! नव द्वार झरते हैं। इसके परिणाम में भी विकार है। मेरा प्रभु आत्मा है, उसमें वह कहाँ है। समझ में आया? और इस शरीर की क्रिया हम (करते हैं)... शरीर धर्म साधन.. 'शरीर आध्यं खलु धर्म साधनं' यहाँ तो कहते हैं नरक का द्वार, स्थान है। साधन कहाँ से होगा? शरीर अच्छा होवे तो धर्म साधन होता है.. धूल में भी नहीं होता। शरीर से धर्म होता है—ऐसा तुझसे किसने कहा? समझ में आया? अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का शुभभाव हो, उससे धर्म नहीं है तो फिर शरीर से धर्म कहाँ से लाया? तुझे आत्मा के स्वभाव का प्रेम नहीं, भगवान आत्मा वीतरागकन्द

है, उसकी तुझे श्रद्धा नहीं-ऐसा यहाँ कहते हैं। देखो!

मुमुक्षु :- कहने में कुछ बाकी नहीं रखा।

उत्तर :- बाकी नहीं रखा?

‘हे मूर्ख!’ अन्तिम है... ‘यह तेरा शरीरूप घर, दुष्ट कर्म शत्रुओं का बनाया हुआ...’ है, वह कैदखाना है। इसमें अन्तिम है। **‘हे मूर्ख! यह तेरा शरीरूप घर, दुष्ट कर्म शत्रुओं द्वारा बनाया हुआ एक कैदखाना है, इन्द्रियों के बड़े पिंजरे से बना हुआ है।’** इन्द्रियों के बड़े पिंजरे में कैद किया है। **‘नसों के जाल से लिपटा हुआ है...’** नसों की जाल यह... नसें हैं न नसें? **‘खून और माँस से लिप्त है...’** खून और माँस से यह शरीर अन्दर पूरा सब लिप्त है। **‘चमड़े से ढँका हुआ गुप्त है...’** यह चमड़े से ढँका हुआ है। **‘आयुष्यकर्म की बेड़ी से बँधा हुआ है।’** आयुष्यकर्म है, तब तक शरीर छूटेगा नहीं। **‘ऐसे शरीर को कैदखाना जान, व्यर्थ प्रेम करके पराधीनता के कष्ट मत उठा। इसमें से बाहर निकलने का यत्न करा।’**

ऐसा शरीर धूल-मिट्टी... भगवान अन्दर चैतन्य आनन्दकन्द है, उसका प्रेम छोड़कर तुझे यह प्रेम होता है, उसे छोड़ दे! आत्मा का कल्याण करना हो तो देह चाहे जिस पर्याय में वर्तता हो, वह जड़ है। चाहे जिस प्रकार वर्तता हो-निरोगता, रोगीपना, सारोगता, वाणी निकलती हो-यह सब परचीज है। भगवान आत्मा निर्विकल्प चैतन्यतत्त्व का प्रेम करके

इस शरीर में उपजना छोड़ दे। समझ में आया? हैं?

मुमुक्षु :- हमारी जेल बहुत अच्छी है, हमारी जेल बहुत मजबूत है-ऐसा कोई नहीं कहता।

उत्तर :- अच्छी कहता है, मेरा शरीर बहुत अच्छा है-ऐसा नहीं कहते? हमारा शरीर मजबूत है, हमें तो कभी रोग नहीं हुआ, साठ वर्ष हुए परन्तु सोंठ नहीं लगाई, बहुत मूर्ख बोलते हैं। सब सुना है या नहीं? साठ-साठ वर्ष हुए तो भी कभी सोंठ नहीं लगाई, परन्तु किसका गर्व करते हो तुम? यह सड़ेगा उस दिन इसमें कीड़े पड़ेंगे.. यह कहाँ आत्मा है तो सड़े नहीं। समझ में आया? साठ वर्ष तक कभी रोग नहीं आया, बुखार नहीं आया, अब आवे वह अलग बात-ऐसा बहुत से कहते हैं। बहुत से वृद्ध ऐसा (कहते) सुने हों। हैं? तुम्हारे पिता को कैसा होगा? हैं? उन्हें ऐसा था, ऐसा बहुत होता है। हमने बहुत लोगों को देखा है। साठ वर्ष हुए कभी सोंठ नहीं लगाई। यह क्या है परन्तु अब? ऐसा हमारा शरीर अच्छा, धूल भी नहीं, सब सड़ा हुआ चमड़ा है। ऐसी महिमा इसकी करता है परन्तु तुझे आत्मा की महिमा नहीं रुचती।

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द अन्दर प्रभु बिराजमान है। अनादि-अनन्त सनातन सत्य प्रभु आत्मा है, उसके प्रेम के समक्ष इसका प्रेम नहीं रहता। इसका प्रेम क्या? इसके लिए तो इसे नरक की उपमा दी है। हैं?

आगामी प्रकाशन

पण्डित श्री दिपचंदजी कासलीवाल द्वारा लिखित आध्यात्मिक ग्रन्थ ‘आत्मावलोकन’ एवं ‘चिद्विलास’ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा हुए भाववाहि अर्थगंभीर प्रवचनोंकी पुस्तकें सन् २०१८में प्रकाशित करनेकी भावना है। इसमें ‘आत्मावलोकन’ ग्रन्थ पर हुए प्रवचनोंके पाँच भाग होनेकी धारणा है एवं ‘चिद्विलास’ ग्रन्थ पर हुए प्रवचनोंके दो भाग बननेकी संभावना है।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके ९६१ वचनामृत पर भाववाही
प्रवचन, दि. २९-६-१९८५, प्रवचन
क्रमांक-५७४ (विषय : विधि)

अज्ञानी, स्वभाव सन्मुखताका प्रयत्न नहीं करता वरन् राग ही के साधन पकड़ता है, अतः उसका भ्रम दूर नहीं होता। यदि स्वभावके आश्रयपूर्वक निर्णय करे तो भव्य-अभव्य विषयक शंका नहीं रहती। जो सत्-उपदेश सुनकर निर्णय करे, उसकी भ्रमणा दूर हो जात है। स्वभाव-सन्मुख होकर निर्णय करनेसे वर्तमान् परिणाममें विशुद्धता होती जाती है। ९६१.

‘अज्ञानी, स्वभाव सन्मुखताका प्रयत्न नहीं करता वरन् राग ही के साधन पकड़ता है, अतः उसका भ्रम दूर नहीं होता।’ क्या कहते हैं? जिसे निज हित करना है, वह किस द्वारा निज हित करता है, यह विचारणीय है। परपदार्थका क्रिया जड़की क्रिया होने-से वह तो वास्तवमें साधन नहीं है। परन्तु रागका साधन वह भी आत्महितका-कल्याणका साधन नहीं है। राग स्वयं अकल्याणस्वरूप होनेसे उसके द्वारा-उस साधन द्वारा आत्माका कल्याण हो, ऐसा नहीं बनता।

धर्मके क्षेत्रमें अनेक प्रकार-से शुभरागका साधन करके शुभरागको साधन मानकर जो कुछ करनेमें आता है, उससे उसका भ्रम अर्थात् अज्ञान दूर नहीं होता और कल्याण कभी होता नहीं। कोई ऐसा कहे कि हम पूजा, भक्ति और बाह्य तपश्चरणकी क्रियामें नहीं पड़ते परन्तु अन्दरमें एकान्तमें बैठकर आत्माका ध्यान करते हैं। स्वरूपका चिंतन करते हैं एवं आत्माका ध्यान करते हैं। वहाँ भी उसे ऐसा पूछते हैं कि किस साधन द्वारा तू वह कार्य करता है। चिंतनका राग, चिंतनमें चल रहा विकल्प, ध्यान करनेका विकल्प और उस ध्यानस्थ देहकी अवस्थामें उत्पन्न होते हुए मनके तरंग, ऐसे रागको

तो तूने साधन नहीं माना है न? इसमें क्या चेतावनी है? कि कोई भी प्रकार-से यदि जीव रागका साधन करता है, किसी भी प्रकार-से यदि जीव रागका साधन करता है तो उससे उसका भ्रम अर्थात् अज्ञान मिटता नहीं। अथवा अनादिसे उसने रागको ग्रहण किया है वह उसने ऐसे ही ग्रहण कर रखा है। ध्यानके बहाने, चिंतनके बहाने भी जबतक रागको ही ग्रहण किया है, रागको ही साधन माना है, राग होता है और उसे साधन मान लिया जाता है, वह जीव अभी भी भ्रमणामें पड़ा है। भ्रमणा पड़ा है इसलिये उसे वास्तवमें स्वरूपके कल्याणका साधन हाथ नहीं लगा है, उसका उसे पता हाथ नहीं लगा है। ऐसा कहना चाहते हैं।

क्या है कि स्वभाव है उसमें जैसे ज्ञानादि अनेक गुण हैं, उसमें साधन भी गुण है। शास्त्र भाषामें उसे करणगुण कहा है। आत्मामें कर्ता गुण है, कर्म गुण है, करण गुण है। कर्म यानी ये पुद्गलकर्म नहीं, द्रव्यकर्म नहीं, भावकर्म नहीं। कर्म अर्थात् कार्य। कर्ताका इष्ट सो कर्म। कर्ताको जो हितरूप है, कल्याणरूप है, इष्टरूप है वह कर्म।

वैसे तो आत्मा जिस स्वरूप है, उस रूप श्रद्धा

उसका स्वीकार करे और उस रूप ज्ञान उसका अनुभव करे-वेदन करे अर्थात् जैसा स्वरूप है वैसी ही अवस्था कर्तव्य है, ऐसा उसमें बिना कहे ही आपोआप आ जाता है। ऐसे आत्मामें अनन्त सामर्थ्य है, उसमें कर्ता, कर्म गुण है, उसमें करण नामका भी गुण है। उस साधनको यहाँ करण कहा है। इसलिये आत्माके स्वयंके स्वभावभूत वस्तुभूत कार्यके लिये आत्माको कोई अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है। साधनांतरकी आवश्यकता नहीं है। राग साधन हो, व्यवहार रत्नत्रयका राग साधन हो, ऐसे अन्य साधनांतरकी आवश्यकता नहीं है। मोक्षमार्ग उससे भी निरपेक्ष है। क्योंकि आत्मामें स्वयमें साधन नामकी शक्ति, करण नामकी शक्ति बेहद सामर्थ्ययुक्त है। अतः उसे अन्य कोई साधन प्राप्त हो, रागका साधन प्राप्त हो या बाहरमें अन्य कोई भी साधन प्राप्त हो तो उस साधन-से उसका कार्य हो अन्यथा उसका कार्य न हो, ऐसा वस्तु स्वरूपमें नहीं है।

ऐसा स्वभावका साधन है उसे अज्ञानी जानता नहीं है। इसलिये उसे उसकी सँभाल करनेका भी प्रश्न नहीं रहता। अपने साधन स्वभावको सँभाले-करण स्वभावको सँभाले वह बात भी उसे नहीं रहती। अतः अनादिसे जो राग उसे हो रहा है, उस रागका साधन वह किसी न किसी प्रकार-से करता है और उस रागका साधन करते-करते मेरा कल्याण हो जायगा, ऐसा उसका भ्रम दूर नहीं होता, ऐसा उसका भ्रम चालू ही रहता है। कल शुरू किया था।

‘यदि स्वभावके आश्रय-पूर्वक निर्णय करे तो भव्य-अभव्य विषयक शंका नहीं रहती।’ क्या कहते हैं? जिसे भव रहित अथवा भव्यत्व एवं अभव्यत्व-से भी पार, उससे भी पर, ऐसा जो आत्मस्वभाव उस स्वभावका स्वभावके आधार-से निर्णय हुआ उसे ऐसी शंका नहीं होती कि कदाचित् मैं भव्य होऊँगा या अभव्य होऊँगा, उसका मुझे ख्याल नहीं आता है मैं कैसा होऊँगा? ऐसी शंका उसे नहीं रहती। वैसे तो भव्यत्व एवं अभव्यत्व

आगममें केवलज्ञानके विषयरूपमें निरूपित हुआ है। कोई भी छद्मस्थमको भव्य-अभव्यत्वका सीधा ज्ञान नहीं होता, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। फिर भी श्रुतज्ञानमें परोक्षज्ञानमें वह आता है। वह तो जो केवलज्ञानका प्रत्यक्ष विषय है, वह सम्यक् मति-श्रुतज्ञानका परोक्ष विषय है। तो स्वयंके बारेमें तो उसे ज्ञात हो जाता है। सम्यग्ज्ञानीको तो कोई बार दूसरेके बारेमें भी ज्ञान हो जाता है कि ये कोई अभव्य जीव लगता है अथवा यह कोई भव्य जीव है, आसन्न भव्य जीव है, ऐसा भी ज्ञात हो जाता है। स्वयंको तो स्वयंके बारेमें ज्ञान न हो उसका तो सवाल ही नहीं रहता।

गुरुदेवने यह परीक्षाका विषय बनाया था एक बार। दर्शनविजय, ज्ञानविजय, चारित्रविजय नामके तीन साधु पालीतानाके मार्ग-से होते हुए सोनगढ़ आये थे। १०-११ बजेके समय होगा। समयसारजी जो चांदीके पत्रमें स्थापना की है उसे देखते थे। गुरुदेवका कमरा तो बगलमें है। देखा कि कोई आया है। थोड़ी बातचीत हुई, उसमें एक प्रश्न उत्पन्न हुआ। पूछा कि क्या नाम है? तो कहा, दर्शनविजय, ज्ञानविजय और चारित्रविजय। दर्शन-ज्ञान-चारित्र है न। भव्य-अभव्यका ज्ञान है? आप भव्य हो या अभव्य हो उसका ज्ञान है? यह एक परीक्षा की। तो कहा, वह तो केवलज्ञानीका विषय है, केवली जाने। फिर कोई चर्चा नहीं की।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि, जिसे स्वभावका निर्णय हो, स्वभावके आश्रय-पूर्वक, स्वभावके आधार-से स्वभावका निर्णय हो, उसे भव्य-अभव्य केवलीने जाना होगा, किसे मालूम है, ऐसी शंका उसे नहीं रहती। उसे अन्दर-से निःशंकपने विश्वास होता है कि मैं निश्चितरूप-से भव्य ही हूँ और निश्चतरूपसे मैं अभव्य नहीं हूँ। ऐसा उसे विश्वास होता है।

मुमुक्षु :- स्वभावके आश्रय-से..

पूज्य भाईश्री :- स्वभावके आश्रय-से प्रथम निर्णय होता है। आश्रय हो उसका तो सवाल ही नहीं है, उसे

तो भव्यत्वका परिपाक हो गया। उसे तो सम्यग्दर्शन हुआ और भव्यत्वका परिपाक भी हो गया। परन्तु जो निर्णय करता है कि मेरा स्वभाव ऐसा है, स्वभावके आधार-से निर्णय करे उसे भी अभव्य होनेकी शंका नहीं रहती। अभव्य हूँ ऐसा विकल्प तो रहता नहीं, परन्तु उसकी शंका उसे नहीं रहती। ऐसा है।

मुमुक्षु :- दूसरे जीवका ख्याल आता है?

पूज्य भाईश्री :- दूसरे जीवका तो सम्यग्ज्ञान होनेके बाद ख्याल आये। किसीको आये, सबको आये ऐसा नहीं है। उस जातकी निर्मलता हो तो आता है। ऐसा लक्ष्य हो, ऐसी निर्मलता हो, दूसरेके प्रति लक्ष्य जाय, उस दृष्टिकोण-से लक्ष्य और उतनी निर्मलता हो तो किसीका ख्याल आता है। ऐसा है।

परन्तु यहाँ तो अपने विषयमें बात है। जिस स्वभावका आश्रय करनेपर मोक्षकी गुँज उठे। अस्ति-से ले तो उसे मोक्षकी गुँज उठती है और नास्ति-से ले तो उसे अभव्यत्व सम्बन्धित उसे शंका भी नहीं रहती। ये सब उसके लक्षण हैं। भविष्यमें स्वरूपका आश्रय करके, यथार्थ मुमुक्षुतामें आया है, अभी तो मुमुक्षुकी बात है, उसे ये सब लक्षण हैं। ऐसे-ऐसे उसके लक्षण हैं कि उसे भव्य-अभव्यकी शंका नहीं रहती। उसे अपने मोक्षकी गुँज अन्दर-से उठती है कि मैं निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करनेवाला हूँ। मेरा मोक्ष होनेवाला है, उसमें उसे शंका नहीं रहती।

‘जो सत्-उपदेश सुनकर निर्णय करे, उसकी भ्रमणा दूर हो जाती है।’ जो सत्-उपदेश है, आत्माके अस्तित्व-से, अस्ति-से उस अस्तित्वमें रहे हुए जो अनन्त गुण हैं, उसका जो सम्यक् उपदेश है अर्थात् उसके लक्ष्य-से, उसके आश्रय-से उसका जो निरूपण है, वह निरूपण सुनकर जो स्वभावके आश्रय-से निर्णय करे, स्वयं स्वभावका आधार लेकर निर्णय करे। ज्ञानपर्यायमें ज्ञानस्वभाव व्यक्त है, जिस अंशमें स्वभाव व्यक्त है, उस स्वभावके आधार-से उसका निर्णय करे। इसीलिये तो ज्ञानलक्षण

लिया है। दूसरा लक्षण नहीं लिया है, परन्तु ज्ञानलक्षण लिया है। उसका यह कारण है।

उसका जो निर्णय करे उसकी भ्रमणा दूर हो जाती है। उसे स्वयं सम्बन्धित कल्पना नहीं रहती अथवा भव्य-अभव्यकी शंका उसे नहीं रहती। मनुष्यको गरमी होती है न? संयोगकी गरमी होती है कि मेरे पास पैसे हैं, मुझे किसीकी परवाह नहीं है। कहते हैं न? मुझे कहाँ किसीके घर खाना खाने जाना है। ऐसा गुजरातीमें कहते हैं। उसे किसीको कहना नहीं है कि मुझे आप भोजन करवाना। ऐसे। अथवा हमारे पास इतने रिश्तेदारोंका, ठेकेदारोंका समूह है, कुटुम्ब-परिवारका इतना बड़ा समूह है कि हमें कोई भी प्रसंगमें तकलीफ पड़े ऐसा नहीं है। ऐसी गरमीमें मनुष्य रहता है कि नहीं? कहते हैं कि, वह सब गरमी तो समझने जैसी है। एक सैकण्डमें सब बदल जाता है। बदल जाता है कि नहीं?

यह एक अपना बेदह सामर्थ्ययुक्त स्वभाव है कि जिसमें अनन्त गुणकी बस्ती है। परिवार कहते हैं न? अनन्त गुणका परिवार है। आत्माको अन्दरमें अनन्त गुणका परिवार है। अनन्त गुणकी बस्तीवाले राज्यका वह स्वयं राजा है। उसकी अनन्ती सत्ता, उसके सामर्थ्यकी अनन्ती सत्ता उसमें है। यह सब उसमें है। अनन्त गुणकी लक्ष्मी-पैसा उसमें है। वास्तवमें तो श्रीको लक्ष्मी कहा, श्रीको सरस्वती कहा है। वह सब श्रीके ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। और श्री अर्थात् ज्ञान। लक्ष्मी भी ज्ञान ऊपर-से... लक्ष्य पर-से, लक्षण पर-से लक्ष्मी ऐसा होता है। यह उसका ज्ञान-धन है वास्तवमें तो। आत्माका ज्ञानादि अनन्त गुणोंका धन है। वह उसका वैभव है। जिसे उसका आधार है, वह आधार, जगतके अन्य चलित-विचलित पदार्थोंके जैसा आधार नहीं है। अचलित पदार्थ है। त्रिकाल ज्योंका त्यों एकरूप रहता अचलित पदार्थ है, उसके आश्रय-से उसका आधार है।

सत्य उपदेश श्रवण करना वह उपदेश निमित्त है। निर्णय करना वह स्वयंके उपादानका कार्य है। इस प्रकार

निमित्त-उपादानकी संधि-पूर्वक जिसका निर्णयका कार्य है, उसे भ्रमणा दूर हो जाती है। अनादिका अज्ञान दूर हो जाता है। मुझे संयोग-से लाभ होगा, पुण्य-से लाभ होगा, पुण्य-के फल-से सुख होगा, वह सब भ्रमणा उसकी दूर हो जाती है। अज्ञानयुक्त असंख्य प्रकारकी भ्रमणाएँ हैं, वह सब दूर हो जाती है। एक स्वरूपके समीप आये तो उसे सर्व समाधान होता है। असमाधान कहीं नहीं रहता।

ऐसे 'स्वभाके सन्मुख होकर निर्णय करनेसे...' स्वभाव सन्मुख होकर निर्णय करनेसे, स्वभावको लक्ष्यमें लेकर निर्णय करनेसे जैसा स्वभाव है वैसा ज्ञानमें प्रतिभास होनेपर, जिस स्वभावका निर्णय हो, ऐसा होनेसे 'वर्तमान परिणाममें विशुद्धता होती जाती है।' यहाँ-से परिणाम सन्मुख होनेसे परिणामकी विशुद्धि वहाँसे शुरू हो जाती है। ऐसी विशुद्ध है। सम्यग्दर्शन हो और विशुद्ध हो, उसका तो कोई सवाल ही नहीं। परन्तु सम्यक् सन्मुख जीव भी अनुभवके समीप जाता होनेसे, प्रतिसमय वह आत्माके स्वभावके समीप जाता होनेसे, उसका आश्रय लेनेके लिये उसका पुरुषार्थ प्रारंभ हुआ होनेसे, उसके परिणाममें प्रतिसमय विशुद्धता होती जाती है। ऐसी शुद्धतामें परिणामित हो जाता है।

मुमुक्षु :- स्वभावका आश्रय और स्वभाव सन्मुख उसमें क्या अंतर है?

समाधान :- दोनों एक ही बात है। स्वभावके आश्रय-से निर्णय करे या स्वभाव सन्मुख होकर निर्णय करे। आश्रयमें क्या है कि निर्णयका आधार कोई निमित्त नहीं है। निर्णयका आधार कोई उपदेश नहीं है, निर्णयका आधार कोई कषायकी मन्दता नहीं है, निर्णयका आधार कोई बाह्य क्रिया नहीं है। शुभयोगकी क्रिया नहीं है। निर्णयका (अन्य) कोई आधार नहीं है।

वैसे तो प्रवचनसारकी ८० गाथामें निर्णयमें अरिहंतकी बात ली है कि जो अरिहंतके द्रव्य-गुण-पर्यायको जाने वह निजात्माको जाने और उसका मोह क्षय होता है।

ऐसी गाथा है। उसमें पहले निर्णय करे। अरिहंतके द्रव्य-गुण-पर्यायसे अपने आत्माका निर्णय करे। वहाँ मिलान करनेके लिये अरिहंतके द्रव्य-गुण-पर्याय हैं। परन्तु उसके सन्मुख होकर निर्णय करे, अरिहंतके सन्मुख होकर निर्णय करे या अरिहंतका आधार लेकर निर्णय करे ऐसा नहीं है। वह विचारमें लेनेके लिये, मिलान करनेके लिये अरिहंतका निमित्त लिया। परन्तु जो निर्णयमें आता है ऐसा जो निजतत्त्व, निज स्वभाव, वह १३वें गुणस्थानवाला तत्त्व नहीं है। अरिहंत तो १३वें गुणस्थानवाला है न? तो वह १३वें गुणस्थानवाला तत्त्व नहीं है। वह १३वें गुणस्थानवाला भी नहीं है और १४वें गुणस्थानवाला भी नहीं है। १४ गुणस्थान-से पार है। जो स्वभाव निश्चित होता है कि 'मैं ऐसा' ऐसा निश्चित होता है, अपना स्वरूप निश्चित होता है। आत्मा ऐसा है ऐसे नहीं, मैं ऐसा हूँ, ऐसा जो निश्चय हुआ वह पद तो-निजपद तो १४ गुणस्थानसे पार है। ऐसा उसे निर्णयमें भासित होता है कि मेरा पद तो १४ गुणस्थान-से पार है, ऊपर है। १४ गुणस्थान उससे नीचे है और मेरा पद उससे ऊपर है। ऐसा अपने स्वरूपका निश्चय होता है। ऐसे निश्चयवालेको स्वरूपका आधार, स्वभावका आधार कहा है। अथवा उसे ज्ञानकी दिसा बदली और सन्मुख होकर उसने निर्णय किया है। उसने विमुख रहकर निर्णय नहीं किया है। रागमें रागकी अधिकतामें है उसने विमुख रहकर निर्णय किया है। और ज्ञानलक्षण-से लक्षित ज्ञानकी अधिकतासे किया गया निर्णय, वह ज्ञानसन्मुख-आत्मसन्मुख होकर निर्णय किया है। स्वभाव सन्मुख होकर यह निर्णय किया है। उसे परिणामकी विशुद्धता होती है। नहीं तो जो शास्त्र पढ़ता है उसे आत्माका रागसहित निर्णय नहीं है? रागकी अधिकतावाला निर्णय नहीं होता कि आत्मा द्रव्य-गुण-पर्यायसे ऐसा है? वह पढ़नेमें नहीं आता है? पढ़नेमें आता है उतना ही नहीं, दूसरेको समझा दे उतना क्षयोपशम होता है। परन्तु आधार किसका है? और किसके सन्मुख होकर वह निर्णय किया है, उस पर सब आधार है।

व्यवहारमें भी विनय-डिसीप्लिनका प्रकार ऐसा है कि राष्ट्रपति हो, वडाप्रधान हो तो उसे सलाम करनेवाला दूसरी ओर देखकर सलाम करता होगा? दूसरी ओर झुककर सलाम करता होगा? या उसके सामने झुककर, उसके सन्मुख होकर सलाम करता है? अथवा उसे मिलने आये, बात करने आये तो मुँह फेरकर बात करता है? उसे वहाँ बैठने देंगे? चलते बनो, भाई! पहले तो बात करनेकी पद्धति समझकर, सीखकर आना। फिर आपकी क्या बात है, वह सुननेका विचार करेंगे। आये बात करनेके लिये और मुँह फेरकर बैठे, कुर्सी पलटकर बैठ जाय।

वैसे यहाँ स्वरूपका-स्वभावका निर्णय करना है तो स्वभावके सन्मुख होकर होता है? या रागमें रागकी अधिकतामें स्वभावकी विमुखतामें रहकर होता है? स्वभाव सन्मुख होकर निर्णय होता है। इससे 'परिणामकी विशुद्धता होती जाती है।' एक बोलमें निर्णयकी बात है, उसके साथ-साथ निमित्तपने उपदेशकी बात है और तीसरी गहरी बात ली है कि एक चिह्न उत्पन्न होता है, लक्षण उत्पन्न होता है कि उस जीवको भव्य-अभव्यकी शंका नहीं रहती। जिसे गहरे-गहरे भी भव्य-अभव्यकी शंका रहे, उसे अभी आत्माके निर्णयका ठिकाना नहीं है, ऐसा समझना।

मुमुक्षु :- स्वभाव सन्मुख निर्णय...

पूज्य भाईश्री :- कैसा यानी?

मुमुक्षु :- सन्मुख निर्णय वह अनुभवका?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, अनुभव पहलेकी बात है। अभी तो निर्णय करता है। निर्णय दो प्रकारसे कहा जाता है, एक तो निज स्वरूपका अनुभव होता है वह जो निर्णय हुआ, वह तो अभेद निर्णय, सच्चा निर्णय, सत्य-सम्यक् निर्णय हो गया। उसे भी निर्णयका पद दिया जाता है। और ऐसे अनुभवके कारणरूप भावभासन है, स्वरूप निश्चय है उसे भी निर्णय कहनेमें आता है। वह निर्णय है, वहाँ-से स्वभाव सन्मुखताका प्रारंभ होता है। जहाँ स्वभाव सन्मुखताका प्रारंभ होता है, वहाँसे उसे मोक्षकी

गुँज आने लगती है। वहाँसे उसे भव्य-अभव्यकी शंका नहीं रहती। अनुभव जिसे होता है उसे तो भव्यत्वका ही परिपाक हो गया। उसे तो शंका रहनेका सवाल ही नहीं है। उसे तो भव्यत्वका परिपाक हो गया।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- ऐसा बनता है। वहाँ तो किसीको रहे, किसीको न भी रहे। जो कोई सत्य उपदेश सुनता है, परन्तु अभी स्वरूप सन्मुख होकर निर्णय नहीं करता है, उसकी बुद्धिमें उतनी वक्रता नहीं होने-से सत्पुरुषके उपदेशकी उसे स्वीकृति आती है, स्वीकार होता है कि बात बराबर कहते हैं, ऐसा ही होने योग्य है। न्यायथी उसे विचार आता है कि यह न्यायसंपन्न बात है। अनेक प्रकारके तर्क लडाये तो भी उसे तर्कशुद्ध बात लगे सत्पुरुषके उपदेशकी। होती भी है तर्कणाशुद्ध यह बात है। सत्का निरूपण भी सर्व प्रकारकी तर्कणासे शुद्ध है। आगम-से भी मिलान करे तो भी उसे ऐसा लगे कि यह बात आगमके साथ इस सत्पुरुषकी वाणी सुसंगत है। इसप्रकार उसे स्वीकृति आनेका प्रसंग है तो सही, परन्तु स्वरूप सन्मुख होकर स्वीकार होना वह दूसरी बात है। ऐसा है। अनेक प्रकारसे तो जीव संमत करता है।

सत्पुरुषको सुननेवाले अनेक जीव होते हैं और वह सब जीव एक ही प्रकार-से संमत करते हैं ऐसा नहीं है, अनेक प्रकारसे संमत करते हैं। उन सर्व प्रकारोंमें यह प्रकार है वह स्वभावकी प्राप्तिकी समीपका प्रकार है। और इसलिये उसे स्वभावकी प्राप्ति होती है। दूसरोंको स्वीकार किया होनेपर भी स्वभावकी प्राप्ति नहीं भी होती। न भी हो। स्वीकार तो किया है। उन सब प्रकारमें रागकी अधिकता है। विचारज्ञानमें अभी रागकी अधिकता है, तबतक रागके आश्रयसे निर्णय गिना जाता है और स्वभावके ज्ञानके आश्रयवाला निर्णय नहीं गिना जाता। ऐसा है। अतः रागके आश्रयमें जबतक है, तबतक वह विपक्षमें खड़ा है। जबतक उसने पक्ष नहीं पलटा है और विपक्षमें खड़ा है। सत्पुरुषको हाँ कहे कि साहब! आप

कहते हो, वैसा ही है। और विपक्षमें खड़ा है? हाँ, अभी विपक्षमें खड़ा है। ना कहे वह तो स्पष्टरूपसे विपक्षमें खड़ा है, परन्तु हाँ कहे तो भी विपक्षमें खड़ा है। जबतक रागकी अधिकता है तबतक। उसने रागका आधार लिया है। निर्णयके कालमें, विचारके कालमें भी जीवने रागका ही आधार लिया है। यह परिस्थिति है। अतः ऐसा जो निर्णय है वह मिट जाता है। कालांतरमें उसकी विस्मृति हो जाती है अथवा कालांतरमें उसमें विपर्यास भी उत्पन्न होता है। ऐसा होता है।

विचारणीय विषय यह है कि बुद्धिपूर्वक संमत करे, बुद्धिपूर्वक स्वीकार करे तो भी यह बात थोड़ी अलग है। नहीं तो वहाँ मुमुक्षु ठगाता है। जैसे कषायकी मन्दतामें जीव भूला पड़ता है, रागको साधन मानकर, ऊपर बोल आ गया, स्वभावका साधन नहीं करता है, रागका साधन करता है, चिंतवन-मननमें भी रागका साधन करता है, ध्यानमें भी रागका साधन करता है। वहाँ भूलता है, वैसे क्षयोपशमज्ञानमें भी भूलता है। परलक्ष्यी क्षयोपशम ज्ञान न्याय, तर्क, आगमके आधारसे किया गया जो क्षयोपशमज्ञान न्याय तर्क एवं आगम, अनुमान, युक्तिके आधारसे किया गया जो क्षयोपशमज्ञान, उस ज्ञानमें भी जीवको ठगा जानेका प्रसंग है तो सही।

उसकी स्पष्टता गुरुदेवको यहाँ करनी है कि तू स्वरूप सन्मुख होकर निर्णय कर। ... निरूपण किया है टोडरमलजीने, सातवें अधिकारमें किया है। यहाँ तो आगेके अधिकारके ... है। वहाँ ऐसा लिखा है उन्होंने कि, सम्यग्दर्शनका निमित्त तो तत्त्वज्ञानका उद्यम करना वह है। सम्यग्दर्शनका निमित्त दान करना वह नहीं, सम्यग्दर्शनका निमित्त उपवास करना वह नहीं है। दूसरी क्रिया उसमें नहीं ली है। सम्यग्दर्शनका निमित्त तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना, तत्त्वज्ञानका उद्यम करना वह है। उस तत्त्वज्ञानका उद्यम करनेवाले जीवोंमें किसीको सम्यग्दर्शन होता है अथवा किसीको नहीं होता है, ऐसा लिया है। दोनों प्रकार बनते हैं, इसलिये उन्होंने दोनों प्रकार लिये हैं। ऐसा कहकर

वह बात उन्होंने छोड़ दी है। उससे आगे जाकर वहाँ गहरी चर्चा उस विषयकी नहीं की है। उतन हद तक वह बातकर वे आगे बढ़े हैं।

वहाँ विचारणीय है। जो तत्त्वज्ञानका उद्यम करते हैं ऐसे जीवोंको वहाँ गहराईमें ऊतरने जैसा है कि तत्त्वज्ञानका उद्यम करनेपर सम्यग्दर्शन होता है अथवा नहीं होता है। तो अपने कैसे नक्की करना कि मुझे होगा या नहीं होगा? ऐसा मैं कैसे नक्की करूँ? यह बात उसे स्वयंके लिये नक्की कर लेनी चाहिये। हो वा नहीं हो, उसमें तो डामाडोल रहता है, दोनों ओर डामाडोल रहे कि क्या मालूम होगा? क्या मालूम नहीं होगा? हो ऐसा एक प्रकार है, उसमें होता है, होता है और होता ही है। नहीं होता है, ऐसा भी एक प्रकार है कि जिसमें नहीं होता है तो नहीं ही होता है। दोनोंका ऊपर-ऊपरका दिखाव, ऊपरका बाह्य दिखाव तत्त्वज्ञानके उद्यमका ही दिखनेमें आता है। परन्तु अन्दरमें फर्क है।

मुमुक्षु :- इसे अन्दरमें ज़ोर है।

पूज्य भाईश्री :- किसके आधार-से निर्णय करता है? मात्र आगमका आधार लेता है? मात्र न्याय, तर्कका आधार लेता है? युक्तिका आधार लेता है? उसके आधारसे उसे निर्णय नहीं होगा। इसलिये वहाँ अरिहंतका दृष्टान्त लिया है तो भी वहाँ बात ली है। वहाँ बातको घुमायी है कि वह द्रव्य-गुण-पर्यायको जाने बादमें अपने आत्माको उसपरसे पहचान लेता है। वहाँ उसने आधार बदला। सन्मुख नहीं रखी। वहाँ उसने अरिहंतकी सन्मुखता नहीं रखी। अपने सन्मुख हुआ। तब उसे वहाँ निर्णय हुआ, ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- प्रतिकूलता संयोगोंका अभाव हो..

पूज्य भाईश्री :- लेकिन प्रतिकूल संयोग किसे कहना?

मुमुक्षु :- अपना प्रश्न, कुटुम्बका प्रश्न, बच्चोंका प्रश्न, व्यवहारमें..

पूज्य भाईश्री :- ऐसे सब प्रश्न किसीके सोल्व हुए

हो, ऐसा एक मनुष्य लाईए। ऐसा एक भी लाईये कि जिसके सभी प्रश्न सोल्व हो गये हो। ऐसा है कोई? किसीको पूरा नहीं पड़ता।

मुमुक्षु :- करना क्या?

पूज्य भाईश्री :- इसमें क्या है कि जीवको इच्छा बन्द होती नहीं और इच्छित विषयका अभाव, वही उसे प्रतिकूलता है। इच्छा क्यों बन्द नहीं होती? कि अन्दर जो आत्माका आनन्द स्वभाव है, उसका उसे अनुभव एवं वेदन नहीं है। निजानन्दका वेदन नहीं है, उसे इच्छाकी ज्वाला शान्त नहीं हो सकती। यह इसका नियम है।

भाईने प्रश्न पूछा था। एक आदमीको ऐसा सर दर्द हो रहा है कि जिससे उसे नींद नहीं आती है और उसे नींद नहीं आती है इसलिये उसका सर दर्द बन्द नहीं होता। नींद आये तो सर दर्द बन्द हो न। अब पहले क्या करना? कहिये। पहले उसे नींद लानी या पहले उसे सर दर्द बन्द करना? लेकिन वह दोनों तो साथ ही होनेवाला है। बहाना ऐसा नीकालता है कि ऐसा सर दर्द होता है कि नींद नहीं आती है और नींद नहीं आती है इसलिये सर दर्द मिटता नहीं, अब करना क्या?

वैसे यहाँ इच्छा और प्रतिकूलताएँ मिटती नहीं है, इसलिये उसे विकल्प मिटता नहीं है और इसलिये उसे समाधि नहीं होती है। निर्विकल्प समाधि नहीं होती है, अतः विकल्प भी मिटता नहीं है। अब करना क्या? बीज पहले या वृक्ष पहले? इसके जैसा प्रश्न है। पहला कौन होगा? दोनों अनादि हैं। वृक्ष भी अनादि है और बीज भी अनादि है। इसके अलावा उसका उपाय नहीं है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि, भाई! तू पहले समझन कर कि इस जगतमें कोई बाह्य परिस्थिति किसी भी प्रकारकी बाह्य परिस्थिति, वह प्रतिकूलता नहीं है। और कोई भी प्रकारकी बाह्य परिस्थिति अनुकूलता भी नहीं है। अनुकूलता एवं प्रतिकूलताकी कल्पना की है। एक आदमीको एक चीज सुहाती है, वही चीज अच्छी नहीं

लगती, ऐसा बनता है। कहते हैं न कि, हमें तो यह चीज बहुत अच्छी लगती थी। लेकिन एक बार इतना खा लिया, इतना खा लिया कि फिर उसमें-से जुलाब-ऊल्टी हो गये, फिर वह चीज नहीं भाती है। ऐसा नहीं कहते हैं? उसके प्रति अभाव हो गया। उस चीजको देखते हैं तब, पहले जो जुलाब-ऊल्टीकी अशाता हुयी थी, उसका सीधा ख्याल आता है उतना ही नहीं, मानों उसका वेदन हो रहा ऐसा लगने लगता है। तो वह चीज अनुकूल थी या प्रतिकूल? उसमें अनुकूलताकी कल्पना की थी कि जिसमें उसने प्रतिकूलताकी कल्पना की। समस्त प्रकारकी अनुकूलता एवं प्रतिकूलता मात्र कल्पनाके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- सब, समस्त कोई भी एक भी बात हो, वह जीवकी कल्पना ही है। दूसरा कुछ नहीं है।

मुमुक्षु :- खानेके अलावा?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, सब आ गयी। खानेके अलावा समस्त कल्पना, अनुकूलता एवं प्रतिकूलता सब कल्पना ही है, दूसरा कुछ नहीं है। ऐसा है। लेकिन शरीरमें रोग हो, वह प्रतिकूलता है कि नहीं? नहीं। निर्धनता हो जाय वह प्रतिकूलता है कि नहीं? चलिये, प्रश्न करते हैं। नहीं, वह प्रतिकूलता नहीं है। सधनता हो वह अनुकूलता है कि नहीं? नहीं। शरीरका स्वास्थ्य बराबर हो जाय, वह अनुकूलता है या नहीं? नहीं। ऐसा है। वह जीवकी कल्पनामात्र है, दूसरा कुछ नहीं है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- जो संयोग सुख-दुःखका कारण नहीं है, पूरा जगत संयोगोंके पीछे सुख-दुःखकी कल्पना करता है। ये तो जगतका सिद्धान्त ही टूट गया। अब अपनी बात लें। समझमें आया कि संयोग सुख-दुःखका कारण नहीं है। तो अपने चलते हुए उदयमें ऐसा देखे

कि, किसीको सुखके कारणरूपमें देखता है, किसीको दुःखके कारणरूपमें देखता है। देख लो, जाँच कर लो।

मुमुक्षु :- विकल्पोंको जब चाहे तब रुकते नहीं है...

पूज्य भाईश्री :- विकल्प इसलिये होते हैं कि सुख-दुःख माना है। सुख-दुःख माना है इसलिये विकल्प चलते हैं। विकल्पकी परंपरा और विकल्पकी जाल जो चलती है, वह सुख-दुःख माननेके कारण है। ऐसा है।

देखिये! दुकान पर दो-चार-आठ ग्राहक खड़े होते हैं, एकसाथ आ जाय। मालूम पड़े कि ये तो सिर्फ भाव पूछने आया है, समय खराब करने आया है, लेनेवाला नहीं है। फिर उसका विकल्प रहता है कि खड़ा है या चला गया? जीवको मालूम पड़े कि मुझे लाभ-नुकसानके साथ सम्बन्ध नहीं है, इसलिये उपेक्षा करता है। उपेक्षा करना उसे सीखाना नहीं पड़ता। सहज उपेक्षा करता है। करता है या नहीं? इसप्रकार उसे संयोगका विकल्प नहीं मितता है, क्योंकि उसने लाभ-नुकसान माना है। यह सीधी बात है। जबतक माना है तबतक विकल्प नहीं मितेगा, नहीं मितेगा और नहीं मितेगा। अनन्त काल-से नहीं मिटा है और अनन्त काल पर्यंत नहीं मितेगा। पूरा भिन्नताका सिद्धान्त ही उस पर है। वस्तु स्वरूप है और वस्तु स्वरूपके निरूपणरूप वह भिन्नताका सिद्धान्त है। तू एक परिपूर्ण चैतन्यद्रव्य है। तेरे स्वरूपसे एवं गुणादिसे परिपूर्ण चैतन्यद्रव्य है। निरालंब निरपेक्ष है और तुझे निश्चयसे किसीके साथ आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है या लाभ-नुकसानका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बात उसे श्रद्धामें-स्वरूप श्रद्धानमें आये तो उसका विकल्प, अनादिकी जो विकल्पकी धारा है, रागकी धारा है वह सम्यक् प्रकारसे एक बार टूटे। बादमें भी विकल्प चालू रहेंगे, परन्तु एक बार वह श्रृंखला टूटेगी। बेड़ी की एक कड़ी कमजोर हो, चाहे जितनी मज़बूत बेड़ीसे बँधा हुआ हो, परन्तु एक कड़ी कमजोर हो तो वहाँ-से बन्धन छूट जाता है। पूरी बेड़ी पड़ी रहे। कड़ी टूटी तो उसका बन्धन टूटा।

वैसे यहाँ जब प्रथम निर्विकल्प हो सम्यग्दर्शनमें तब उसे अनादिके रागबन्धनकी श्रृंखला टूटती है। पहली बार उसने तोड़ी। फिर जो बेड़ी रही वह निष्क्रिय पड़ी रही। उसके कामकी नहीं रही, उसे बन्धन करनेवाली बेड़ी नहीं रही। सम्यग्दृष्टिको इतना राग हुआ न? उतना राग हुआ तो भले हुआ, उससे उसे बन्धन नहीं है। अल्प बन्धनको बन्धन नहीं गिना है। क्योंकि नीरस है, उस रागमें भी वह नीरस है। अतः स्थिति, अनुभाग उसे उतने नहीं पड़ते। कहिये, क्या प्रश्न था? प्रश्न अधूरा छूट गया। पहले ऐसा हो, बादमें ऐसा हो। उसमें प्रश्न क्या है?

मुमुक्षु :- प्रतिकूलता..

पूज्य भाईश्री :- प्रतिकूलता-अनुकूलताका क्या प्रश्न है?

मुमुक्षु :- प्रतिकूलताका अभाव हो अर्थात् अपने ऐसा मानते हों कि ऐसा हो जाय तो शान्ति हो जाय, ऐसा हो जाय तो शान्ति हो जाय। आजीविका प्रश्न हो और वह बैठ जाय तो शान्ति हो, भोजनका प्रश्न हो वह बराबर हो जाय तो शान्ति हो जाय।

पूज्य भाईश्री :- लेकिन ऐसा होता है कि जितनी इच्छापूर्तिवाले संयोगके प्रकार बनते हैं, उसी परिस्थितिमें दूसरी इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती है। भूख लगी, आहार मिला, आहार हुआ, किया या हुआ जो भी कहिये, उतनेमें उसे दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। आजीविकाका प्रश्न था। वह आजीविकाका प्रश्न पूरा हुआ तो नयी-नयी वस्तुओंकी जरूरत, दूसरे वैभवकी अपेक्षा एवं इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उसका कोई अंत नहीं है। जगतमें किसीने कभी ऐसा नहीं कहा कि अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। यह चाहिये और वह चाहिये, ये चालू ही है। यह चाहिये और वह चाहिये, वह सबका चालू ही है। किसीको नहीं चाहिये, यह बात नहीं है। इसलिये वह पूरा होनेका प्रश्न नहीं है।

उसे दूसरे प्रकारसे पूरा करने जैसा है कि वह अनुकूलता एवं प्रतिकूलता नाममात्र है। कोई भी

परिस्थितिमें मैं आत्मा ज्ञानस्वरूपी ज्ञायकस्वभावी आत्मा हूँ। मेरे लिये वह सब पर है। इसलिये वह मेरे लिये अपेक्षाका विषय है। अपेक्षाका विषय एकमात्र मेरा स्वरूप है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरी अपेक्षास्वरूप नहीं है। इसप्रकार उसे वहाँसे वापस मुड़ जाना चाहिये। उसीमें आगे बढ़े कि अब यह इच्छा पूरी हो, अब यह इच्छा पूरी हो, अब यह इच्छा पूरी हो तो इच्छाका विषय तो जैसे-जैसे पदार्थका संयोग हो, अग्रिमें घी डालो और ज्वाला बढ़े, उस प्रकार इच्छाकी ज्वाला बढ़ती है। और प्राप्त संयोगोंका रस भी बढ़ता है।

आजीविका पूरी होनेके अलावा लाखो मिलने लगे। ऐसे प्रसंग बनते हैं लोगोंको कि पहले आजीविकाकी भी तकलीफ हो, उसे लाखो मिलने लगे तो भी उसका जो प्राप्त हुआ उसका रस भी ज्यादा होता है और प्राप्त करनेका रस भी ज्यादा दिखनेमें आता है। वहाँ-से तो वह कभी वापस नहीं मुड़ पायेगा। और उसी रसमें आयुष्य पूरा हो जाता है, जाता है दुर्गतिमें। संयोगके पीछे जिसकी दौड़के परिणाम हैं, वह नियमसे दुर्गतिमें जाता है। गुरुदेव तो कहते थे कि ये बड़े-बड़े सेठ ऊँचे कपड़े पहनकर घुमते हैं, जायगा छिपकलीके कोंखमें। एक सेकण्डमें आयुष्य पूरा हो गया, फू हो गया, नेत्र फटे रहते हैं और एक समयमें भाईसाहब छिपकलीकी कोंखमें चला जायगा। बाहरमें यहाँ सब मान दे, सलाम करे, गाड़ीके पास जाय तो ड्राइवर दरवाजा खोलनेको खड़ा रहे। वहाँ छिपकलीमें चला जाय। एक सेकण्डमें कितना बड़ा फेरफार होता है। एक सेकण्ड भी नहीं लगती। ये छिपकली। तिर्यचमें जाता है न? अत्यंत पामर प्राणी है। घरमें कीड़े खाती है। कीड़े खाती है। उसका आयुष्य छोटा होता

है। वह ऐसी स्थितिमें जाता है। उसे कुछ खानेको नहीं मिलता, कीड़े खाती है।

मुमुक्षु :- राग जड़ है..

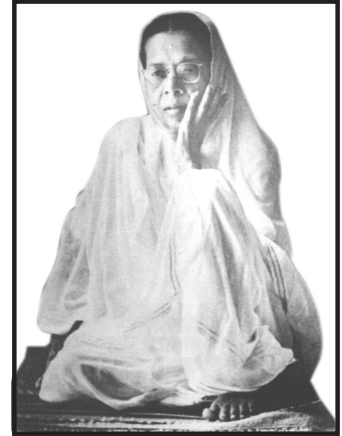
पूज्य भाईश्री :- राग चैतन्यके स्वभावभूत नहीं है। जड़के आश्रय-से जड़ सदृश्य जड़वत् चैतन्यविकार है। क्या है? चैतन्यविकार है। निश्चयसे चैतन्यविकार है। परन्तु उसे जड़ भी कहा है, उसमें स्वरूपकी दृष्टि है। जहाँ निज चैतन्यस्वरूपमें दृष्टिसे मैं-पना स्थापित किया, वहाँ वह ऐसा कहता है कि ये राग है वह जड़ है, चैतन्य नहीं। चैतन्यविकार होनेपर भी वह चैतन्य नहीं है, ऐसा कहनेमें आता है।

ऐसा कहते हैं न कि शरीरमें रोग हो वह शरीरकी अवस्था है। राग आत्माकी अवस्था, चैतन्यविकार चैतन्यकी अवस्था है। परन्तु रोग किससे हुआ? कि अमुक प्रकारका ज़हर उत्पन्न हुआ इसलिये रोग हुआ। टोक्सिकेशन कहते हैं कि नहीं? तो वह जिस प्रकारका ज़हर उत्पन्न होकर शरीरमें व्याप्त हुआ और शरीरकी अवस्था विषयुक्त हुयी, वह शरीर नहीं है। शरीर उसका प्रतिकार करेगा। शरीरका स्वभाव उसका प्रतिकार करेगा। शरीरका प्रतिकार स्वभाव ही कहनेमें आता है। तंदुरस्ती वह शरीरका स्वभाव है, वह नादुरस्तीका हमेशा प्रतिकार करता है, रोगका प्रतिकार करता है। है कि नहीं?

इसलिये जड़कर्मके आश्रयसे वह राग उत्पन्न होता होनेसे और वह जड़ सदृश्य भाव धारण करनेसे उस भावको जड़ कहनेमें आता है। इसप्रकार जड़ है। जड़ है, लेकिन इसप्रकार जड़ है। कोई उसे चैतन्यका विकार नहीं मानकर जड़ कहे तो वह भूल है। ऐसा नहीं है। ९६१ पूरा हुआ।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जुन-२०१८) का शुल्क एक मुमुक्षु, अमरिका के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य बहिनश्री की वत्सवर्चा



प्रश्न :- प्रमाणज्ञान साथ न रखें तो निश्चयाभासी होनेका अवकाश है?

समाधान :- हाँ; निश्चयाभासी होनेका अवकाश है, उसकी द्रव्यदृष्टि ही मिथ्या है।

मुमुक्षु :- अनेकांतकी शैली ऐसी है कि दोनों पहलुओंसे स्वरूपकी ओर जानेकी प्रेरणा मिले?

बहिनश्री :- हाँ, अनेकांतका स्वरूप ही ऐसा है। द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध हूँ इसप्रकार दृष्टिमें एकांत आया। तब द्रव्य-पर्यायका ज्ञान भी साथ रहता है अर्थात् सम्यक् एकांतके साथ अनेकांत रहा हुआ है और तब एकांत सच्चा होता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३७)



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिये एक क्षणभंगुरताका विचार करके वैराग्य लाये और एक आत्माका बहुमान लाये-उन दोमेंसे कार्यकारी कौन है?

समाधान :- वैराग्य लानेके लिये 'सब क्षणिक है' ऐसा विचार करे, उसीके साथ आत्माकी महिमादि सभी होने चाहिये। वैराग्य हेतु ऐसा विचार करे कि यह देह तो क्षणभंगुर है, यह शरीर शाश्वत नहीं है, आत्मा महिमावान है, यह सब दुःखरूप एवं आकुलतामय है।-ऐसे अनेक प्रकारसे वैराग्य आता है। वैराग्य आये उसमें आत्माको पहिचाननेका ध्येय (मुख्य) होना चाहिये। मेरा आत्मा शाश्वत है और यह देह क्षणभंगुर है-इसप्रकार अपने अस्तित्वकी ओर अपना जोर आना चाहिये। यह देह शाश्वत नहीं है, तो शाश्वत क्या है?-मेरा आत्मा शाश्वत है। इसप्रकार शाश्वत आत्माके ध्येयपूर्वक 'अन्य यह सब क्षणभंगुर है' ऐसा वैराग्य यथार्थ है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३८)



प्रश्न :- आत्मा के स्वभावकी मुख्यता होती है?

समाधान :- मुख्यता आत्मा के स्वभावकी होनी चाहिये। मात्र क्षणभंगुरताका वैराग्य आये और शाश्वत आत्माकी ओरका ध्येय न हो तो वह मात्र वैराग्य जितना ही होगा; इसलिये शाश्वत आत्माका ही ध्येय होना चाहिये। आत्मा शाश्वत है, और यह सब क्षणिक है, इसलिये शाश्वत आत्माको ही ग्रहण करना। यह बाहरी कुछ भी ग्रहण करने जैसा नहीं है, वह सब तो परद्रव्य हैं और उनमें परिवर्तन होता रहता है, परंतु मेरा आत्मा एकसा शाश्वत रहनेवाला है-इसप्रकार उसे ग्रहण करना। अपनी ओरका-अपने अस्तित्वके ग्रहणका-बल, ध्येय अंतरंगसे आना चाहिये। यदि वह आये तो यथार्थरूपसे त्याग हो। अंतरसे राग छूटे तब सच्चा वैराग्य आये और वह शाश्वत आत्माके बलपूर्वक आता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३९)



प्रश्न :- क्या निरंतर भेदज्ञान करते रहना?

समाधान :- अंतर स्वभावको पहिचानकर निरंतर भेदज्ञान करना। यद्यपि अंतरसे भेदज्ञान हो तभी यथार्थ भेदज्ञान होता है; परंतु वह न हो तबतक उसकी भावना-रटन करना। प्रथम भले ही विकल्पपूर्वक

भेदज्ञान करे, परंतु यथार्थ तो जब सहज हो, तब होता है। द्रव्यपर दृष्टि करना तथा भेदज्ञान करना वह एक ही उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६४०)



प्रश्न :- द्रव्यको अकारण पारिणामिकभाव किस प्रकार कहा है?

समाधान :- द्रव्यको कोई कारण लागू नहीं होता, वह स्वतःसिद्ध है। किसीके कारणसे द्रव्य परिणमन करे तब तो द्रव्य पराधीन हो जाय; परंतु वह तो अनादि-अनंत शाश्वत स्वतःसिद्ध है और स्वयं अपने आप परिणमन करता है। विभावमें जानेवाला भी स्वयं, और स्वभावमें जानेवाला भी स्वयं है। कर्म तो मात्र निमित्त है। स्वयं ही परिणमन करता है, उसे अन्य कोई परिणमित नहीं करता। द्रव्य स्वतःसिद्ध अनादि-अनंत शुद्ध है और अपनी परिणतिमें स्वयं अपनेसे अशुद्ध होता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६४१)



प्रश्न :- क्या द्रव्यको पर्यायकी भी अपेक्षा नहीं है?

समाधान :- द्रव्यको पर्यायकी अपेक्षा नहीं है और पर्यायकी परिणति स्वतः परिणमन करती है; तथापि पर्याय एवं द्रव्य दोनोंके सर्वथा टुकड़े नहीं हैं। द्रव्यके आश्रयसे पर्याय होती है, परंतु है सब स्वतः-किसीके कारण कोई नहीं है। द्रव्य स्वयं ही परिणमता है और उसके मूल स्वभावमें अशुद्धता नहीं होती। द्रव्य जुदा रहता है और पर्याय जुदी परिणमती है-ऐसे खंड नहीं हैं। पर्याय अंश है और द्रव्य अंशी है ऐसा भेद है; परंतु यह सर्वथा द्रव्यका खंड है, और यह दूसरा पर्यायका खंड है-ऐसा नहीं है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६४२)



प्रश्न :- क्या यह सब विस्तारसे जानना चाहिये?

समाधान :- कोई विस्तारसे जाने या संक्षेपसे जाने, (प्रयोजनभूत) जानना तो बीचमें आता है। यह पर और यह स्व, यह विभाव और यह स्वभाव-ऐसे भेदज्ञान करता है उसमें भी इतना जानना आता है। यह स्वभाव और यह विभाव-ऐसा भेदज्ञान करके स्वको जाने उसमें विशेष भेद न जाने, तब भी 'मैं एक अखंड तत्त्व हूँ' ऐसा साथ आ ही जाता है। एक स्त्री दाल और छिलके अलग-अलग कर रही थी उसे देखकर शिवभूति मुनि गुरुके कथनका आशय समझ गये कि गुरु ऐसा कहना चाहते हैं कि जिसप्रकार दाल और छिलके भिन्न हैं उसी प्रकार स्वभाव और विभाव भिन्न हैं। ज्ञानी स्वभाव-विभावको भिन्न करवाकर एक स्वभावको भली भाँति लक्ष्यमें पकडवाते हैं और जहाँ एक स्वभावको लक्ष्यमें लिया वहाँ उसमें गुण-पर्यायका ज्ञान साथ आ जाता है। 'यह ज्ञायक'- इस प्रकार स्वभावको पहिचान लिया तो यह ज्ञायक है, वह आत्मा-परिणतिवान है, सर्वथा कूटस्थ नहीं है; गुणभेद होने पर भी वस्तु अभेद है, खंडखंड नहीं है।-ऐसा सभी ज्ञान साथमें आ जाता है। यथार्थरूपसे ज्ञायकको लक्ष्यमें लेनेवाला कोई पात्र हो तो संक्षेपमें जल्दी समझ जाता है; विशेष क्षयोपशम हो वह सारांश समझ लेता है। कोई विचार करे और द्रव्य-गुण-पर्यायको (विस्तारसे) जाने। परंतु अमुक प्रकारसे जाने तभी लक्ष्यमें आता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६४३)



सर्वोत्तम उपाय जो कोई हो उसका इसपरसे आप विचार कीजिये; और इसे विचारते हुए जो कुछ योग्य लगे वह हमें पूछिये; और इस मार्गसे यदि कुछ योग्यता प्राप्त करेंगे तो चाहे जहाँसे भी उपशम मिल जायेगा। उपशम मिले और जिसकी आज्ञाका आराधन करें ऐसे पुरुषकी खोजमें रहिये।

बाकी दूसरे सभी साधन बादमें करने योग्य है। इसके सिवाय दूसरा कोई मोक्षमार्ग विचारने पर प्रतीत नहीं होगा। (विकल्पसे) प्रतीत हो तो बताइयेगा ताकि जो कुछ योग्य हो वह बताया जा सके।

१९५

बंबई, पोष, १९४७

सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार

जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्पोंको छोड़कर इस एक विकल्पको बारंबार स्मरण करना आवश्यक है-

“अनन्तकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और वह क्या करनेसे हो?” इस वाक्यमें अनन्त अर्थ समाया हुआ है; और इस वाक्यमें कही हुई चिंतना किये बिना, उसके लिये दृढ़ होकर तरसे बिना मार्गकी दिशाका भी अल्प भान नहीं होता; पूर्वमें हुआ नहीं, और भविष्यकालमें भी नहींहोगा। हमने तो ऐसा जाना है। इसलिये आप सबको यही खोजना है। उसके बाद दूसरा क्या जानना? वह मालूम होता है।

१९६

बंबई, माघ सुदी ७, रवि, १९४७

मु-पनेसे रहना पड़ता है ऐसे जिज्ञासु,

जीवके लिये दो बड़े बंधन हैं, एक स्वच्छंद और दूसरा प्रतिबंध। जिसकी इच्छा स्वच्छंद दूर करनेकी है, उसे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करना चाहिये, और जिसकी इच्छा प्रतिबंध दूर करनेकी है, उसे सर्वसंगका त्यागी होना चाहिये। ऐसा न हो तो बंधनका नाश नहीं होता। जिसका स्वच्छंद नष्ट हुआ है, उसको जो प्रतिबंध है, वह अवसर प्राप्त होनेपर नष्ट होता है, इतनी शिक्षा स्मरण करने योग्य है।

यदि व्याख्यान करना पड़े तो करे, परन्तु इस कार्यकी अभी मेरी योग्यता नहीं है और यह मुझे प्रतिबंध है, ऐसा समझते हुए उदासीन भावसे करे। उसे न करनेके लिये श्रोताओंको रुचिकर तथा योग्य लगे ऐसे प्रयत्न करे, और फिर भी जब करना पड़े तो उपयुक्तके अनुसार उदासीन भाव समझकर करे।

१९७

बंबई, माघ सुदी ९, मंगल, १९४७

आपका आनंदरूप पत्र मिला। ऐसे पत्रके दर्शनकी तृषा अधिक है।

ज्ञानके 'परोक्ष-अपरोक्ष' होनेके विषयमें पत्र से लिखा जा सकना सम्भव नहीं है, परन्तु सुधाकी धाराके पीछेके कितने ही दर्शन हुए हैं, और यदि असंगताके साथ आपका सत्संग हो तो अंतिम स्वरूप परिपूर्ण प्रकाशित हो ऐसा है; क्योंकि उसे प्रायः सर्व प्रकारसे जाना है, और वही राह उसके दर्शनकी है। इस उपाधियोगमें भगवान इस दर्शनको नहीं होने देंगे, ऐसा वे मुझे प्रेरित करते हैं, इसलिये जब एकांतवासी हुआ जायेगा तब जान-बूझकर भगवानका रखा हुआ परदा मात्र थोड़े ही प्रयत्नसे दूर हो जायेगा। इसके अतिरिक्त दूसरे स्पष्टीकरण पत्र द्वारा नहीं किये जा सकते।

अभी आपके समागमके बिना आनंदका रोध है।

वि. आज्ञाकारी

१९४

बंबई, पोष, १९४७

जीवको मार्ग मिला नहीं है, इसका क्या कारण?

इसका वारंवार विचार कर, योग्य लगे तब साथका पत्र पढ़ें।
अभी विशेष लिख सकनेकी या बतलानेकी दशा नहीं है,
तो भी एक मात्र आपकी मनोवृत्ति कुछ दुःखित होनेके रुके इसलिये
यथावसर जो कुछ योग्य लगा सो लिखा है।

हमें लगता है कि मार्ग सरल है, परंतु प्राप्तिका योग मिलना
दुर्लभ है।

**सत्स्वरूपको अभेदभावसे और अनन्य भक्तिसे नमोनमः**

जो निरंतर भाव-अप्रतिबद्धतासे विचरते हैं ऐसे ज्ञानीपुरुषके चरणारविंदके प्रति अचल प्रेम हुए बिना और सम्यक्प्रतीति आये बिना सत्स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती, और आने पर अवश्य वह मुमुक्षु, जिसके चरणारविंदकी उसने सेवा की है, उसकी दशाको पाता है। सर्व ज्ञानियोंने इस मार्गका सेवन किया है, सेवन करते हैं और सेवन करेंगे। ज्ञानप्राप्ति इससे हमें हुई थी, वर्तमानमें इसी मार्गसे होती है और अनागतकालमें भी ज्ञानप्राप्ति यही मार्ग है। सर्व शास्त्रोंका बोध-लक्ष्य देखा जाये तो यही है। और जो कोई भी प्राणी छूटना चाहता है उसे अखंड वृत्तिसे इसी मार्गका आराधन करना चाहिये। इस मार्गका आराधन किये बिना जीवने अनादि कालसे परिभ्रमण किया है। जब तक जीवको स्वच्छंदरूपी अंधत्व है, तब तक इस मार्गका दर्शन नहीं होता। (अंधत्व दूर होने के लिये) जीवको इस मार्गका विचार करना चाहिये, दृढ़ मोक्षेच्छा करनी चाहिये; इस विचारमें अप्रमत्त रहना चाहिये, तो मार्गकी प्राप्ति होकर अंधत्व दूर होता है, यह निःशंक मानें। अनादिकालसे जीव उलटे मार्गपर चला है। यद्यपि उसने जप, तप, शास्त्राध्ययन इत्यादि अनंत बार किया है; तथापि जो कुछ भी अवश्य करने योग्य था, वह उसने किया नहीं है; जो हमने पहले ही बताया है।

सूयगडांगसूत्रमें ऋषभदेवजी भगवानने जहाँ अट्टानवें पुत्रोंको उपदेश दिया है, मोक्षमार्गपर चढ़ाया है वहाँ यही उपदेश किया है-

“हे आयुष्यमानों! इस जीवने सब कुछ किया है एक इसके बिना, वह क्या? तो कि निश्चयपूर्वक कहते हैं कि सत्पुरुषका कहा हुआ वचन, उसका उपदेश सुना नहीं है, अथवा सम्यक्प्रकारसे उसका पालन नहीं किया है। और इसे ही हमने मुनियोंकी सामायिक (आत्मस्वरूपकी प्राप्ति) कहा है।”

सुधर्मास्वामी जंबुस्वामीको उपदेश देते हैं कि सारे जगतका जिन्होंने दर्शन किया है, ऐसे महावीर भगवानने हमें इस प्रकार कहा है-“गुरुके अधीन होकर आचरण करनेवाले अनन्त पुरुषोंने मार्ग पाकर मोक्ष प्राप्त किया है।” एक इस स्थलमें नहीं, परन्तु सर्व स्थलों और सर्व शास्त्रोंमें यही बात कहनेका लक्ष्य है।

आणाए धम्मो आणाए तवो।

आज्ञाका आराधन ही धर्म और आज्ञाका आराधन ही तप है। (आचारांग सूत्र)

सब जगह यही महापुरुषोंके कहनेका लक्ष्य है। यह लक्ष्य जीवकी समझमें नहीं आया। इसके कारणोंमें सबसे प्रधान कारण स्वच्छंद है और जिसने स्वच्छंदको मंद किया है, ऐसे पुरुषके लिये प्रतिबद्धता (लोकसम्बन्धी बंधन, स्वजनकुटुम्ब बंधन, देहाभिमानरूप बंधन, संकल्प-विकल्परूप बन्धन) इत्यादि बन्धनको दूर करनेका

(अनुसंधान पृष्ठ सं.१८ पर...)